मुंशी आनन्द कुण्डी
केन्द्रीय पुस्तकालय
वर्ग संख्या 2743
शिक्षा महाविद्यालय, कुरुक्षेत्र

श्रीमहाराज भर्तृहरि-प्रणीतम्

नीतिशतकम्

सर्वसाधारण के लाभार्थ अनेक पण्डितों से
शुद्ध कराकर प्रकाशित की गई।

किसी को छापने का अधिकार नहीं है

संवत् १९७० सन् १९१३

पुस्तक मिलने का पता-

छुट्टनलाल स्वामी स्वामीपुस्तकालय मेरठ

प्रथम बार १००० | मूल्य ⅞ प्रतिपुस्तक

Printed & published by R. S. Dublis at the
Bhaskar Press Meerut City.

॥ ओ३म् ॥

भर्तृ नीतिशतकम्

भाषाटीका सहितम्

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥ १ ॥

अर्थ—दशों दिशाओं, तीनों कालों और सब आकाश में परिपूर्ण, अनन्त, चैतन्यस्वरूप, अपने अनुभव से ही जानने योग्य, शान्त तथा तेजोरूप परमात्मा को नमस्कार हो ॥ १ ॥

एक समय उज्जयिनीनिवासी एक ब्राह्मण ने किसी महात्मा के प्रसाद से एक ऐसा फल 'कि जिस के खाने से जरारोगादि की निवृत्ति और आयु की वृद्धि हो' पाया। उस ने धन की लालसा से वह फल महाराजा भर्तृहरि को अर्पण किया, राजा ने वह फल स्वयं न खाकर अपनी परमप्रिया रानी को दिया, रानी ने भी उक्त फल किसी अन्य पुरुष को जिस में उसका मन आसक्त था देदिया। उस पुरुष ने वह फल वेश्या को और वेश्या ने राजा को दिया, अर्थात् लौट कर वही फल राजा के पास आगया। इस छलयुक्त व्यवहार ने राजा के चित्त में ऐसा प्रभाव उत्पन्न कर दिया कि जिस से राजा ने विरक्त होकर आगे लिखा यह श्लोक कहकर सब को धिक्कारा है:—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥ २ ॥

अर्थ—जिस की मैं निरन्तर चिन्ता करता हूं वह (रानी) मुझ से विरक्त होकर किसी अन्य पुरुष को चाहती है और वह पुरुष अन्य स्त्री में आसक्त है तथा वह अन्य स्त्री मुझ से प्रसन्न है—इसलिये रानी को, उस पुरुष को, इस अन्य स्त्री को, मुझ को और कामदेव को धिक्कार है कि जिस की यह सब लीला है ॥

आशय यह है कि मनुष्यों की आन्तरिक अवस्था को देखा जाय तो ऊपर से अच्छे सौम्य सज्जन दीखने वाले भी अनेक गुप्त पापी होते हैं, तब हम किसे अच्छा कहें। हम स्वयं भी अपने को शोचें तो पापी ठहरते । ऐसी विचार से राजा भर्तृहरि को कुछ ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ॥ ३ ॥

अर्थ—अज्ञानी मनुष्य सुगमता से समझ सकता है और ज्ञानी अति सुगमता से—परन्तु जिस मनुष्य को थोड़े से ज्ञान से अभिमान होगया है उसे ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता ॥ ३ ॥

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्राङ्कुरात्—
समुद्रमपि सन्तरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ।
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारये—
न्तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥ ४ ॥

अर्थ—(यह सम्भव है कि) मनुष्य बलात्कार से मगर की दाढ़ों की नोंक से मणि निकाल सके, चञ्चल तरङ्गों से क्षोभित सागर को तैर कर पार हो जाय, क्रोधयुक्त सर्प को भी सिर में फूल की माला के तुल्य धारण कर ले, परन्तु मूर्ख के चित्त को जो कि कुकर्म में फंस रहा है उसे कोई नहीं हटा सकता ॥

आशय यह कि यद्यपि पूर्वोक्त बातें असम्भव सी हैं तथापि कदाचित् सिद्ध हो सकें, परन्तु मूर्ख को उपदेश करके ठीक कर लेना इन से भी अधिक असम्भव है ॥ ४ ॥

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्—
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादये—
न्तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥ ५ ॥

अर्थ—यत्न से पेलने पर बालू में से भी तैल निकल सके, कदाचित् प्यासा मनुष्य मृगतृष्णा में जल भी पी सके, और ढूंढ़ने पर खरहे का

सींग भी प्राप्त होजाए, परन्तु मूर्ख का चित्त जो कुकर्म में फंस रहा है, उसे कोई नहीं बिलगा सकता। यद्यपि उक्त बातें असम्भव हैं, परन्तु इस से अधिक असम्भव मूर्ख मनुष्य के चित्त को सुधारना है।

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते—
छेत्तुं वज्रमणीच्छिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते।
माधुर्य्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते—
नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः॥६॥

अर्थ—वह मनुष्य कमल की कोमल डण्डी के सूत से (जोकि मुख से फूंक देने मात्र से टूट सकती है अर्थात् अत्यन्त कोमल है) हस्ती को बांधना चाहता है—और सिरिस के पुष्प की पङ्खुरि (यह भी अति-कोमल है) से हीरे को बेंधने का यत्न करता है—और बूंद भर मधु (शहद) से खारी समुद्र को मीठा किया चाहता है, जो अपने अमृतरूप वचनों से खलों को सन्मार्ग में ले आना चाहता है॥

जैसे पूर्वोक्त असम्भव काम कदापि सिद्ध नहीं हो सकते, वैसे अच्छे उपदेश से मूर्ख का सुधारना भी असम्भव है॥६॥

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा, विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविदां समाजे,विभूषणं मौनमपण्डितानाम्॥७॥

अर्थ—मौन (चुप रहना) अपने आधीन गुण है, विधाता ने पूरे मूर्खता का ढकना बनाया है और विशेष कर बुद्धिमानों की सभा में तो यह मूर्खों का बड़ा भूषण है॥

अल्पज्ञ मनुष्य को चाहिये कि कम बोले वा मौन रहे, तो उस की प्रतिष्ठा और गौरव शीघ्र नहीं बिगड़ेगा और कार्य सिद्ध होते जायेंगे॥७॥

यदा किञ्चिज्ज्ञोहं द्विप इव मदान्धः समभवं—
तदा सर्वज्ञोस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतं—
तदा मूर्खोस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥८॥

अर्थ—अल्पज्ञानी अभिमानी होता है और विशेषज्ञ जब नम्र हो जाता है, इस को अपने ऊपर दृष्टान्त लाकर ग्रन्थकार कहते हैं कि जब

मैं अल्पज्ञ था, तब हाथी की स्याईं मद से अन्धा होरहा था, तब मेरे मन में ऐसा गर्व हुआ कि मैं सर्वज्ञ हूं। परन्तु जब मैंने पण्डितों से कुछ २ ज्ञान प्राप्त किया, तो अपने को मूर्ख पाया और मेरा मद ज्वर के समान उतर गया॥

इस लिये अल्पज्ञ को चाहिये कि वह श्रेष्ठ विद्वानों का सङ्ग करे॥८॥

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं-
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम्।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते-
नहि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्॥९॥

अर्थ—जैसे कुत्ता कीड़ों के समूह से युक्त, लार से भीगे, दुर्गन्धि से पूरित, निन्दित, नीरस तथा मांसरहित मनुष्य के हाड़ को खाते समय अपने पास खड़े हुए इन्द्र को भी देख कर शङ्का नहीं करता, वैसे ही क्षुद्र मनुष्य जिस वस्तु को ग्रहण करता है उस की तुच्छता पर ध्यान नहीं देता और सज्जनों की निन्दा से नहीं डरता है॥ ९॥

शिरः शार्वं स्वर्गात्पतति शिरसस्तत्क्षितिधरं-
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा-
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥१०॥

अर्थ—(उत्तम स्थान [पद] से गिरा हुआ मनुष्य क्रमशः नीचे ही गिरता जाता है इस को गङ्गा के दृष्टान्त से कहते हैं कि) जैसे गङ्गा प्रथम स्वर्ग से महादेव के मस्तक पर गिरी-पुनः वहां से ऊंचे पर्वत पर-उस पर्वत से भूमि पर भूमि से समुद्र में-इस प्रकार क्रम से नीचे २ ही गिरती गई, वैसे विवेकभ्रष्टजन भी अनेक प्रकार से नीचे को ही गिरते जाते हैं॥१०

शक्योवारयितुं जलेन हुतभुक् छत्त्रेण सूर्यतपो-
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदौ दण्डेन गोगर्दभौ।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं-
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्॥११॥

अर्थ—जल से अग्नि का, छाते से धूप (घाम) का, तीखे अङ्कुश से मद वाले हाथी का, दण्डे से दुष्ट बैल तथा गदहे का, अनेक प्रकार के औषधों से रोग का और मन्त्रप्रयोग से विष का निवारण किया जासकता है। इस प्रकार शास्त्र में सब का औषध कहा है, परन्तु मूर्ख का औषध नहीं है॥

यह अत्युक्ति है। सर्वथा निषेध करने में तात्पर्य नहीं, किन्तु आशय यह है कि अग्नि आदि को जलादि से शान्त करना सहज है, पर मूर्ख को ज्ञानोपदेश से शान्त करना बहुत कठिन है। इस कारण समयानुकूल किसी प्रबल उपाय से मूर्ख को शान्त करना चाहिये॥११॥

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुःपुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥१२॥

अर्थ—जो मनुष्य साहित्य, संगीतशास्त्र और कला कौशल की विद्या से अनजान है, वह पूंछ और सींग से रहित साक्षात् पशु है। यह विलक्षण पशु जो तृण (घास) नहीं खाता और जीता है, यह उन पशुओं का उत्तम भाग्य [खुशक़िस्मती] है॥

प्रयोजन यह है कि संसार में पशु के तुल्य न रहें वा न माने जावें, इस कारण प्रत्येक मनुष्य को शास्त्र का अभ्यास करना चाहिये॥१२॥

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥१३॥

अर्थ—जो मनुष्य न विद्यासम्पन्न, न तपस्वी, न दानी, न ज्ञानवान्, न सुशील, न गुणी और न धर्मात्मा हैं वे संसार में पृथ्वी पर भाररूप हुए मनुष्य के स्वरूप से साक्षात् पशु विचरते हैं। इस लिये पशुता दूर करने के अर्थ मनुष्य को विद्यादि शुभगुणों से युक्त होना योग्य है॥१३॥

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैस्सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि॥१४॥

अर्थ—पर्वतों और दुर्गम वनों में व्याघ्रादि वा भील आदि वनचरों के संग भ्रमण करना उत्तम है, परन्तु मूर्खों का सहवास, चाहे इन्द्रभवन

में भी हो वह भी, दुःखदायक होने से त्याज्य है (अर्थात् सज्जनों का समागम करना सर्वोत्तम है) ॥१४॥

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा-
विख्याताः कवयोवसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयोह्यर्थं विनापीश्वराः-
कुत्साः स्युः कुपरीक्षकाहि मणयोयैरर्घतः पातिताः ॥१५॥

अर्थ—शास्त्रों के शब्दों से जिन की वाणी सुन्दर है, शिष्यों के देने योग्य जिन के पास विद्या है, ऐसे सुप्रसिद्ध कवि जिस राजा के देश में निर्धन हुए दुःखी रहते हैं, वह राजा मूर्ख है। और कविजन तो विना धन के भी उत्तम ही हैं, क्योंकि जिन्होंने मणियों का असल मूल्य घटा दिया है वे परीक्षक (जौहरी) ही खोटे हैं, किन्तु मणि किसी प्रकार दूषित नहीं ॥१५॥

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा-
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं-
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते ॥१६॥

अर्थ—जो हरने (पढ़ने) वाले को नहीं दीख पड़ता, सर्वदा कुछ सुख बढ़ाता, विद्यार्थियों को देने पर भी बहुत बढ़ता और कल्पान्त-प्रलय समय में भी जिस का नाश नहीं होता, ऐसा छिपा हुआ विद्यारूपी धन जिन के पास है, हे राजा लोगो ! उन से अभिमान छोड़ कर वर्तो। क्योंकि उनकी बराबरी कौन कर सकता है ? उन ऐसे परीक्षक विद्वानों के साथ ईर्ष्या द्वेषादि करने वाला अपने सुख के मूल विद्या धर्मादि शुभ गुणों से ही ईर्ष्या करता जानो ॥ १६ ॥

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान्मावमंस्था-
स्तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि।
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां-
न भवति विसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिन को परम अर्थ (मोक्ष) पर्यन्त की सामग्री प्राप्त है ऐसे विद्वानों का निरादर मत करो। क्योंकि उन्हें तुम्हारी तृणवत् तुच्छ लक्ष्मी नहीं रोक सकती है। जैसे महामत्त गजराज को कमल की नाल का सूत नहीं बांध सकता ॥

अर्थात् श्रेष्ठ विद्वानों, ज्ञानियों, योगियों, तथा ऋषियों के सामने धनादि ऐश्वर्य का अभिमान कभी किसी को नहीं करना चाहिये ॥ १७ ॥

अम्भोजिनीवननिवासविलासमेव,
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितोविधाता।
नत्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां।
वैदग्ध्यकीर्त्तिमपहर्त्तुमसौ समर्थः ॥ १८ ॥

अन्वय—यदि विधाता हंस पर क्रोध करे तो उस के कमलवन में रहने के आनन्द को तो नष्ट कर सकता है, परन्तु उस के दूध और जल को पृथक् २ करने के प्रसिद्ध चातुर्य और उस से होने वाले यश के नाश करने में वह भी असमर्थ है ॥

प्रयोजन यह है कि राजादि श्रीमान् पुरुष भी ऋषि महर्षि विद्वान् को अपने देश से निकाल सकता है, (को विदेशः सुविद्यानाम्) अच्छे विद्यावानों का कोई विदेश नहीं रहता, इस से राजादि लोग विद्वान् को कुछ कष्ट नहीं दे सकते। परन्तु विद्या से होने वाले परमानन्द और उस की कीर्त्ति में कुछ भी बाधा नहीं डाल सकता, इस लिये विद्वान् से समना ही राजादि का परम कर्त्तव्य है ॥ १८ ॥

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारान चन्द्रोज्वला-
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्द्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते-
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥ १९ ॥

अर्थ—केयूर [बाजूबन्द], चन्द्रमा के तुल्य उज्ज्वल मोतियों का हार, स्नान, चन्दन, पुष्पमालादि का धारण और सँवारे हुए केश पुरुष को भूषित नहीं कर सकते—किन्तु संस्कारयुक्त वाणी ही पुरुष को अलङ्कृत

कर सकती है; क्योंकि वस्त्रादि आभूषण नष्ट होने वाले हैं पर वाणीरूप भूषण ही सच्चा भूषण है ॥

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं-
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो बिदेशगमने विद्या परं दैवतं -
विद्या राजसु पूजिता नहि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥२०॥

अर्थ—विद्या मनुष्य का उत्तमरूप और छिपा हुआ धन है, विद्या ही भोग, यश और सुखदेने वाली है। विद्या गुरुओं का भी गुरु है। विदेश में विद्या ही भाई के समान सहायक होती है। विद्या ही परम देवता है—राजाओं में विद्या की पूजा होती है धन की नहीं। इतने गुणों को सिद्ध करने वाली विद्या जिस मनुष्य के पास नहीं वह साक्षात् पशु है ॥२०॥

क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां-
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम् ।
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्यानवद्या यदि-
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥२१॥

अर्थ—जिस पुरुष में क्षमा है उस को कवच से क्या ? जिस में क्रोध है उसे शत्रु की क्या आवश्यकता है ? जिस की जाति (बिरादरी) है उस को अग्नि से क्या प्रयोजन ? जिस का हृदय अच्छा शुद्ध निर्दोष है उसे दिव्य औषधों से क्या प्रयोजन ? जिस के साथ दुष्टजन विद्यमान हैं उस को सर्प और अधिक क्या हानि कर सकते हैं ? जिस के पास निर्दोष विद्या है उसे धनोपार्जन क्यों करना ? जो लज्जावान् है उसको अन्य भूषण से क्या प्रयोजन ? जो सुन्दर कविता कर सकता है उस की दृष्टि में राज्य क्या पदार्थ है ? अर्थात् कुछ नहीं। क्षमा ही सब से बड़ा रक्षक (क्रोध ही सब से बड़ा शत्रु, कुटुम्बी लोग ही सब से अधिक जलाने वाले) हृदय की शुद्धि ही सब उपद्रवों से बचने का हेतु, दुर्जन ही अत्यन्त दुःखदायी, विद्या ही सर्वोपरि धन, लज्जा ही सर्वोपरि शोभा और अच्छी कविताशक्ति ही राज्य से भी बड़ी है ॥

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने नयोनृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम्।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्त्तता-
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः॥२२॥

अर्थ-अपने सम्बन्धियों वा भृत्यादि के प्रति उदारता, दूसरों पर दया, दुर्जन के साथ कठोर बर्त्ताव, सज्जनों से प्रीति, राजसभा में नीति, पण्डित जनों के साथ सीधापन, शत्रुओं में शूरता, पूज्य जनों में क्षमा, और (जो व्यभिचारादि में फंसकर कुटिल हों ऐसी) स्त्रियों के साथ धूर्त्तता करना-एक प्रकार की कला (गुणों) में जो पुरुष निपुण हैं उन्हीं के आश्रय संसार की स्थिति है॥

अर्थात् ऐसे आचरण से निर्विघ्न संसारका काम चलता है, इससे विचारशील पुरुषों को ऐसा ही बर्त्ताव सदा करना चाहिये॥ २२॥

जाड्यं धियोहरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्त्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्॥ २३॥

अर्थ-बुद्धि की जड़ता को दूर करती, वचन में सचाई को भरती, मान को बढ़ाती, पाप को निवृत्त करती, चित्त को प्रसन्न रखती और सर्वत्र यश को फैलाती है। कहो, वह कौन सी भलाई है जिसे सत्सङ्गति सिद्ध नहीं करती? अर्थात् सब भलाइयों का मूल सत्सङ्ग है॥ २३॥

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥ २४॥

अर्थ-ऐसे सुकृती [पुण्यवान्] कवीश्वर लोग कि जो साहित्यशास्त्रोक्त आठों रसों में सिद्धि प्राप्त किये हुए हों वे ही सब मनुष्यों में उत्तम हैं। क्योंकि उनके कीर्त्तिरूपी देह में कभी जरा (बुढ़ापा) और मरण का भय नहीं होता॥

सुविद्या ही संसार में मनुष्य की सर्वोत्तम कीर्त्ति को स्थापित रखने में बड़ा हेतु है, इस कारण यश चाहने वाले, श्रेष्ठ विद्वानों से उत्तम विद्या प्राप्त करें॥ २४॥

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनोनिःक्लेशलेशं मनः ।
आकारोरुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ संप्राप्यते देहिनाम् ॥ २५ ॥

अर्थ-जिस पर सर्वसुखों का स्वामी ईश्वर प्रसन्न होता वा जिस का भाग्य नाम प्रारब्ध अच्छा होता है उस को नीचेलिखी सुख सामग्री प्राप्त होती है--शुद्ध आचरण वाला पुत्र, पतिव्रता स्त्री, सदा प्रसन्न रहने वाला स्वामी, प्रेमी मित्र, सरलमन वाले कुटुम्ब के लोग, क्लेश से रहित मन, सुन्दर स्वरूप, चिरस्थायी ऐश्वर्य और विद्या से शोभायमान मुख॥२५॥

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यम्
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः॥२६॥

अर्थ-सर्वसम्मत परस्पर अविरुद्ध सब शास्त्रों में मर्य्यादा सहित कल्याण का मार्ग यह बताया गया है कि जीवहिंसा न करना, पराये धन हरने से मन को रोकना, सत्य बोलना, उचित समय पर यथाशक्ति दान करना, पराई स्त्रियों की बातें न करना और न सुनना, तृष्णा के वेग को रोकना, गुरुजनों के आगे नम्र रहना और प्राणिमात्र पर दया करना ॥२६॥

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ २७ ॥

अर्थ-क्षुद्र (तमोगुणी) लोग विघ्न के भय से किसी सत्कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करते। मध्यम जन (रजोगुणी) प्रारम्भ तो कर देते हैं परन्तु विघ्न पड़जाने से उस काम को बीच ही में छोड़ देते हैं । उत्तम (सात्विक) लोग बार२ विघ्नों के उपस्थित होने पर भी उस काम को विना पूरा किये नहीं त्यागते ॥२७॥

असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधारावृतमिदम्॥ २८॥

अर्थ–सत्पुरुषों को चाहिये कि क्षुद्रजनों से याचना न करें, न निर्धन मित्र से कुछ मांगें किन्तु न्यायानुकूल चित्त को प्रसन्न करने वाली जीविका करें, प्राण जाने के भय से भी खोटा वा कठिन [चित्तको मलिन करने वाला] काम न करें, विपत्ति में भी कड़े बने रहें, किन्तु घबराकर अपनी गम्भीरता को न छोड़ें, और उत्तम जनों के आचरण को धारण किये रहें। इस प्रकार तलवार की धार से भी तीक्ष्णव्रत [नियमपालन] का उपदेश उन के लिये किसने किया है? अर्थात् किसी ने नहीं यह सज्जनों का, स्वाभाविक ही गुण है॥ २८॥

क्षत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि।
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलग्रासैकबद्धस्पृहः–
किं जीर्णं तृणमत्तिमानमहतामग्रेसरः केसरी॥ २९॥

अर्थ– भूख से दुर्बल, बुढ़ापे से दुर्बल, पराक्रम से हीन, शोचनीय दशा को प्राप्त, तेजरहित, और जिसके प्राण निकलने की दशा होरही है ऐसा, मत्त हाथी के मस्तक के मांस के ग्रास की चाह करने वाला और अभिमानियों में अग्रगन्ता--सिंह–क्या सूखी घास को खायगा? कदापि नहीं॥

इस का यह अभिप्राय है कि महान् पुरुष महती विपत्ति में भी अयोग्य वृत्ति से निर्वाह करना नहीं चाहते॥२९॥

स्वल्पं स्वायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थि गोः
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत्तस्य क्षुधाशान्तये।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम्॥३०

अर्थ-स्नायु और चर्बी में सने हुए मांस रहित बैल की हड्डी के छोटे से टुकड़े को पाकर कुत्ता बहुत प्रसन्न होता है यद्यपि वह हाड़ उस कुत्ते की भूख को दूर नहीं कर सकता, और सिंह अपनी गोद में आये हुए शृगाल को भी छोड़ देता और हस्ती को मारना चाहता है ॥ ३० ॥

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनञ्च ।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥ ३१ ॥

अर्थ-कुत्ता टुकड़ा देने वाले के आगे पूंछ हिलाता, पैरों पर गिरता, पृथिवी पर लोट कर मुख और पेट दिखाता है। परन्तु हस्ती अपने को भोजन देने वाले की ओर धीरता से देखता जाता और झूम झूम कर खाता है। आशय यह है कि तुच्छ मनुष्य अपने वृत्तिदाता की सौ सौ खुशामदें और चापलूसी करते हैं, परन्तु महान् पुरुष बड़ी गम्भीरता से बर्त्तते हैं ॥ ३१ ॥

स जातोयेन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्त्तिनि संसारे मृतः कोवा न जायते ॥ ३२ ॥

अर्थ-इस जगत् में वही मनुष्य जन्मा है कि जिसके जन्मने से वंश की उन्नतिहो। नहीं तो चक्र (गाड़ी के पहिये) के समान सदा घूमने वाले संसार में सभी मरते और जन्मते हैं ॥३२॥

कुसुमस्तबकस्येव द्वे गती स्तोमनस्विनाम् ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्य्येत वनेऽथवा ॥ ३३ ॥

अर्थ-पुष्पों के गुच्छे की न्याईं मनस्वी (दृढ़ विचार वाले वीर) पुरुषों की दो प्रकार की गति रहती है। या तो सब के शिर पर विराजते हैं-नहीं तो वनमें ही सूख जाते हैं ॥ ३३ ॥

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः सम्भाविताः पञ्चशः
स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुचीराहुर्न वैरायते ॥
द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरौ ।
भ्रातः! पर्व्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषीकृतः ॥३४॥

अर्थ--यद्यपि बृहस्पति आदि अन्य भी पांच ग्रह आकाश में हैं परन्तु अधिक पराक्रम की रुचि करने वाला राहु उन से वैर नहीं करता। हे भ्रातः! देखो अमावस और पूर्णमासी को जिस का शिरमात्र शेष रह गया है ऐसा राहु पूर्ण तेज वाले सूर्य और चन्द्रमा को ही ग्रसता है ॥३४॥

वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थिताम्-
कमठपतिना मध्ये पृष्ठे सदा स विधार्य्यते।
तमपि कुरुते क्रीडाधीनं पयोधिरनादरा
दहह! महतां निस्सीमानश्चरित्रविभूतयः ॥ ३५ ॥

अर्थ-शेषजी ने अपने फण पर सारे भुवनों को धारण किया है- उस शेष को भी कच्छप ने अपनी पीठ पर धारण किया, उस कच्छप को भी समुद्र ने आदर से बराह के आधीन किया-इस पौराणिकी गाथा के दृष्टान्त से भर्तृहरि जी यह सिद्ध करते हैं कि महापुरुषों के कर्म और ऐश्वर्य भी बड़े ही होते हैं ॥

महात्माओं की अवधि वा थाह सबको नहीं मिल सकती, इसी कारण वे महात्मा अर्थात् महान् बड़े गम्भीर अगाध विचार वाले कहाते हैं ॥३५॥

वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश
प्रहारैरुद्गच्छद्ब हलदहनोद्गारगुरुभिः ॥
तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे
न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥ ३६ ॥

अर्थ-इन्द्र के वज्रजन्य अग्नि से भस्म होकर मर जाना अच्छा था- परन्तु अपने पिता हिमालय को दुःख में छोड़ कर मैनाक को उचित न था कि अपनी रक्षा के लिये समुद्र में जा पड़ता।

आशय यह है कि सन्तान को उचित नहीं कि माता पिता को दुःखित छोड़ कर आप सुखी हो बैठे, क्योंकि धर्म्मशास्त्र के सिद्धान्त से माता पिता व आचार्य्य की सेवा करना ही पुत्र का परमधर्म्म है ॥ ३६ ॥

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतविकृतिं कथं सहते ॥ ३७ ॥

अर्थ-यद्यपि सूर्य्यकान्त मणि अचेतन (जड़) है तथापि सूर्य्य के

किरणरूप चरण से छुये जाने पर जल उठता है—तो सचेतन तेजस्वी पुरुष अन्य नीच पुरुष से हुए अनादर को क्योंकर सहार सकता है ?

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ॥ ३८ ॥

अर्थ-यद्यपि सिंह का बच्चा देखने में छोटा हो तौ भी मदवाले एस्ती के मारने के लिये झपट कर दौड़ता है। तेजवालों का यह स्वभाव ही है, कुछ तेज का कारण अवस्था नहीं है।

अर्थात् सज्जनता की प्रकृति वाले मनुष्यादि प्राणियों के बालकों में भी वैसा स्वभाव होता है इससे संस्काररूप क्रियमाण साध्यगुण कीअपेक्ष स्वाभाविक जातीय सिद्धगुण की प्रबलता जताई है ॥ ३८ ॥

अथ द्रव्यप्रशंसा

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधोगच्छतात्
शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना ।
शौर्यं वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोस्तु नः केवलम्--
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥ ३९ ॥

अर्थ-चाहे ब्राह्मणादि जाति पाताल को चली जाय, समस्त गुण उस से भी नीचे चले जावें और शील भले ही पर्वत से गिर कर नष्ट होजाय तथा कुलीनता अग्नि से जल जावे, और शूरता (बहादुरी) के ऊपर वज्र-बिजुली गिर पड़े। परन्तु हमें केवल द्रव्य से प्रयोजन है कि जिसके विना सब गुण तृण के भी छोटे टुकड़े के समान हो कर निरर्थक हो जाते हैं। अर्थात् एक धन के न होने से जाति के लोग प्रतिष्ठा नहीं करते, गुण भी अवगुण से दीखने लगते हैं, शील को कोई नहीं पूंछता, कुटुम्ब के लोग बात नहीं करते और शूरवीरता व्यर्थ हो जाती है। तात्पर्य यह है कि संसार सम्बन्धी कोई काम धन के विना नहीं चलता ॥ ३९ ॥

तानीन्द्रियाणि सकलानि तदेव कर्म
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थेष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ ४० ॥

अर्थ-मनुष्य की वे ही इन्द्रियां हैं वही व्यवहार है वही बुद्धि है और वचन भी वही है, परन्तु एक धन की गर्मी न रहने से मनुष्य क्षणमात्र में और का और ही हो जाता है ॥ ४० ॥

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः, सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ४१

अर्थ-जिस मनुष्य के पास धन है वही अच्छे कुल वाला, बुद्धिमान्, शास्त्रवेत्ता, गुणी, वक्ता और सुन्दर रूपवान् समझा जाता है। इस से यह सिद्ध होता है कि सब गुण द्रव्य के आधीन हैं ॥ ४१ ॥

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ॥
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रया-
न्मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात् प्रमादाद्धनम् ॥ ४२ ॥

अर्थ-खोटी सलाह से राजा, अधिक मेल जोल से संन्यासी, लाड़ प्यार से पुत्र, विद्या न पढ़ने से ब्राह्मण, दुष्ट सन्तान से कुल, दुष्ट पापी के सङ्ग से शील, मदिरा पीने से लज्जा, नित्य न देखने से खेती, विदेश में अधिक रहने से स्नेह, अधीनगी के बिना मित्रता, अनीति से संपत् और अंधाधुन्ध विरक्तता तथा प्रमाद वा भूल से धन नष्ट होजाता है ॥ ४२ ॥

दानं भोगोनाशस्तिस्रोगतयो भवन्ति वित्तस्य ।
योन ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥४३॥

अर्थ--दान देना, भोग लेना और नाश होजाना । ये तीन मार्ग धन के निकलने के हैं । जो पुरुष धन को न दान करता और न भोगता है--उस के धन की तीसरी गति (नाश) अवश्य होती है ॥ ४३ ॥

क्षणः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो
मदक्षीणोनागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः ।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ॥४४॥

अर्थ--इतनों की शोभा अधिक कृशता से ही होती है--सान पर घिसे हुए

हीरे की, युद्ध में जीतने वाले शस्त्र से घायल की, मद से उतरे हस्ती की, शरद् ऋतु में अल्प जल वाली नदी की, द्वितीया के चन्द्रमा की, रति से पीड़ित हुई बाला स्त्री की और अतिदान से निर्धन हुए पुरुष की शोभा है ॥

अभिप्राय यह है कि इतनों की दुर्बलता वास्तव में दुर्बलता नहीं किन्तु उन २ कार्यों के सिद्ध करने से उन २ की सार्थकता होकर शोभा है, इस लिये निर्बल करने वाले होने पर भी ऐसे २ काम कर्त्तव्य हैं ॥

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये
स पश्चात्सम्पूर्णः कलयति धरित्रीं तृणसमाम् ।
अतश्चानैकान्त्याद्गुरुलघुतयार्थेषु धनिना-
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च सङ्कोचयति च ॥ ४५ ॥

अर्थ-जब कोई मनुष्य अत्यन्त गिरी हुई दशा में होता है तो एक सेर भर जौ की इच्छा करता है । पुनः वही पुरुष जब अति धनाढ्य हो जाता है तो पृथिवी को भी तृण समान गिनने लगता है । इस कारण ये दोनों अवस्था ही पुरुष को बड़ा और छोटा बनाती तथा वस्तुओं को भी फैलाती और सङ्कुचित करती हैं ॥ ४५ ॥

तात्पर्य यह है कि जब समयानुसार मनुष्य की दशा बढ़ती है तो इस की इच्छा और संकल्प विकल्प भी बढ़ते हैं ।

राजन् ! दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतां
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ॥ ४६ ॥

अर्थ हे राजन् ! यदि पृथिवीरूप गौ को अच्छे प्रकार दुहा चाहते हो तो बछड़ारूपी प्रजा को भली भांति पोषण करो । क्योंकि जब प्रजारूप बछड़ा निरन्तर पुष्ट किया जायगा तभी यह भूमि कल्पलता की भांति नाना प्रकार के फल फूलों से फलेगी ॥ ४६ ॥

सारांश यह है कि जो राजा भांति २ के पदार्थों से सुखी हुआ चाहता है- उसे तन मन, धन से प्रजा को प्रसन्न रखना परमावश्यक है--ऐसा किये बिना राजा को सुख कदापि प्राप्त नहीं हो सकता ॥

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।
नित्यव्ययाप्रचुरनित्यधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ४७ ॥

अर्थ-राजाओं की नीति कहीं सच्ची कहीं झूंठी, कहीं कठोर और कहीं मीठा बोलने वाली, कहीं हिंसा कराने वाली और कहीं दया कराने वाली, कहीं लोभ से भरी हुई और कहीं उदारता दिखाने वाली और बहुतसा व्यय कराने वाली और कहीं सञ्चय कराने वाली वेश्या के समान अनेक रूप धारण करती है ॥ ४७ ॥

विद्या कीर्त्तिः पालनं ब्राह्मणानां दानं भोगोमित्रसंरक्षणञ्च ।
येषामेते षड् गुणा न प्रवृत्ताः कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ४८

अर्थ--१ विद्यालाभ, २ यशप्राप्ति, ३ ब्राह्मणों का पालन, ४ दान करना, ५ स्वयं पदार्थों को भोगना, ६ मित्रों की रक्षा करना—ये छः गुण जिन में नहीं आये उन पुरुषों को राजा के यहां अधिकार पाने का क्या फल हुआ ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥

अभिप्राय यह है कि राज्य में अधिकार पाकर जिस मनुष्य ने उक्त ६ गुणों में से कुछ भी प्राप्त न किया उस के अधिकार को धिक्कार है, इस लिये धर्मात्मा विचारशीलों को चाहिये कि धर्म को आगे रख के चलते हुए राज्य में प्रवेश होने पर वहां सुगमता से होने योग्य विद्यादि का लाभ अवश्य करें ॥४८ ॥

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद् वा धनं
तत् प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततोनाधिकम् ।
तद्धीरोभव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटोगृह्णाति तुल्यं जलम् ॥४९॥

अर्थ–थोड़ा वा बहुत जो कुछ धनादि द्वारा सुख मिलना विधाता ने मस्तक में लिख दिया है ऊषर भूमि में और सुमेरु पर्वत पर जाने से भी वह न्यूनाधिक नहीं हो सकता, इस लिये धीरज धरो और धनवालों के

पास जाकर व्यर्थ याचना मत करो। क्योंकि देखो घड़ा कूप तथा समुद्र में से बराबर ही जलग्रहण करता है कि जितना उस में समा सकता है॥

इस से कविने यह सूचित किया है कि गर्वित धनवानों के पास जाकर मांगना अत्यन्त नीचकर्म है, इसे छोड़ विशेष कर ब्राह्मणों को सन्तोष वा जप करना चाहिये जिसके द्वारा अत्यन्त सुख मिले॥ ४९॥

त्वमेव चातकाधारोसीति केषां न गोचरः ?।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्षसे ?॥ ५०॥

अर्थ-हे मेघवर ! तुम ही पपीहा पक्षी के आधार हो-यह बात कौन नहीं जानता। फिर हमारे दीन वचनों की प्रतीक्षा क्यों करते हो ?आश्रितों की आशा पूर्ण कीजिये॥ ५०॥

रे रे ! चातक ! सावधानमनसा मित्र ! क्षणं श्रूयता--
मम्भोदा बहवोवसन्ति गगने सर्वे तु नैतादृशाः।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतोमा ब्रूहि दीनं वचः॥५१॥

अर्थ—अरे पपीहा ! सावधान मन से क्षणभर हमारी बात सुन-कि आकाश में बादल बहुत हैं, परन्तु सब समान नहीं हैं। उनमें कोई तो वर्षा से पृथ्वी को पूर्ण कर देते हैं और कोई २ वृथा ही गरजाकरते हैं। इस कारण हे मित्र ! जिस जिस को तू देखता है उसी २ के आगे दीनवचन मत बोल॥

संसार में सब धनी दानशील नहीं होते, कोई तो मांगने वालों को सन्तुष्ट कर देते हैं और कोई व्यर्थ ही अपनी प्रशंसा करते हैं कि हम ऐसे हैं। इस कारण विचारशील भिक्षुकों को उचित है कि सब के सामने हाथ न पसारें और सन्तोषवृत्ति को धारण करें॥ ५१॥

इति द्रव्यप्रशंसा॥

अथ दुर्जननिन्दा।

अकरुणत्वमकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा।
सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम्॥५२

अर्थ-१ निर्दयीपना। २ अकारण विग्रह (लड़ाई)। ३ पराये धन की इच्छा। ४ पराई स्त्री को चाहना। ५ सज्जनों की बात को न सहारना। और ६ कुटुम्ब की बड़ाई न देख सकना ये छः अवगुण दुष्टजनों के स्वाभाविक ही होते हैं ॥ ५२ ॥

दुर्जनः परिहर्त्तव्योविद्ययाऽलंकृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥ ५३ ॥

अर्थ-यद्यपि दुर्जन मनुष्य विद्यावान् हो तौ भी उस का परित्याग करना उचित है। क्योंकि मणि से भूषित सर्प क्या भय देने वाला नहीं होता? अर्थात् अवश्य होता है ॥

आशय यह कि विद्यारहित हो तौ भी सज्जन पुरुष के साथ सब को मेल रखना चाहिये, किन्तु विद्वान् दुष्ट के साथ भी नहीं ॥ ५३ ॥

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे
तत्कोनाम गुणोभवेत्स गुणिनां योदुर्जनैर्नाङ्कितः ॥ ५४ ॥

अर्थ-दुष्ट लोग-लज्जावान् को शिथिल, व्रतधारी को दम्भी, पवित्र को छली, शूर को दयाहीन, थोड़ा बोलने वाले को मूर्ख, मीठा बोलने वाले को दीन, तेजस्वी को अहङ्कारी, वक्ता को बकवादी और शान्तचित्त को निकम्मा कहते हैं। गुणियों में कौनसा ऐसा गुण है जिसे दुर्जनों ने कलङ्क नहीं लगाया ॥ ५४ ॥

लोभश्चेदगुणेन किं? पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः?
सत्यं चेत्तपसा च किं? शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्?।
सौजन्यं यदि किं निजैः? सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः?।
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना? ॥ ५५ ॥

अर्थ-लोभ जिसमें है उस में और अवगुण क्या चाहिये? जो निन्दक है उसे अन्य पाप करने की क्या आवश्यकता है? सत्यवादी को तप से क्या प्रयोजन? शुद्ध मन वाले को तीर्थों से क्या फल? जो सज्जन हैं उन्हें मित्र तथा कुटुम्ब वालों की क्या कमी है? जिनको यश प्राप्त है उन्हें अन्य

भूषणों की क्या आवश्यकता है ? जिन में सद्विद्या है उन्हें और धन क्या चाहिये ? जिनका अपयश हो रहा है वे जीते ही मरे के तुल्य हैं॥५५॥

शशी दिवसधूसरोगलितयौवना कामिनी
सरोविगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ॥
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलोमनसि सप्त शल्यानि मे ॥ ५६ ॥

अर्थ—महाराज भर्तृहरिजी कहते हैं कि ये ७ बातें हमारे मन में कांटे के समान दुःख देती हैं। १ दिनका मलीन चन्द्रमा। २ यौवनहीन स्त्री। ३ विना कमल का सरोवर। ४ सुन्दर रूप वाला अविद्वान्। ५ धनवान् कृपण। ६ निर्धन सत्पुरुष। ७ राजसभा में दुष्टों का रहना ॥ ५६ ॥

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयोनाम भूभुजाम्।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ॥ ५७ ॥

अर्थ-जैसे अग्नि होम करने वाले को भी छूने से जला ही देता है वैसे ही प्रबल क्रोधी राजाओं का भी कोई मित्र नहीं होता ॥

अर्थात् राजा और अग्निका विश्वास कभी न करना चाहिये ॥ ५७ ॥

मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलोजल्पकोवा
धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः ॥
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशोनाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनोयोगिनामप्यगम्यः ॥ ५८ ॥

अर्थ--सेवक--चुप रहने से गूंगा, चतुराई के साथ बोलने से बाउला या बकवादी, समीप रहने से ढीठ, दूर रहने से मूर्ख, क्षमा करने से डरपोक, और न सहारने से नीचकुल का समझा जाता है। (इस से प्रतीत होता है कि) सेवाधर्म ऐसा कठिन है कि योगियों से भी निभना असम्भव है ॥

उद्भासिताऽखिलखलस्य विशृङ्खलस्य,
प्राग्जातविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः।
दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य,
नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः ? ॥ ५९ ॥

अर्थ- जो अनेक दुष्टों को उभारने वाला, किसी की न मानने वाला, जिसके अपने किये पूर्वजन्म के बहुत नीचकर्म प्रकट हो रहे हैं, दैवानुसार धन वाला भी है और सद्गुणों से वैर रखने वाला है इस प्रकार के नीच मनुष्य के वश में रहकर किसने सुख पाया है? अर्थात् कोई मनुष्य सुखी नहीं हो सकता ॥ ५९ ॥

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण, लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥६०॥

अर्थ–जिस प्रकार दोपहर से पूर्व की छाया प्रथम बड़ी होती फिर क्रमशः घटती जाती है वैसे ही दुर्जन की मित्रता जानो। और दोपहर के उपरान्त की छाया के समान सत्पुरुषों की मित्रता प्रथम बहुत छोटी और पुनः क्रमशः बढ़ती जाती है ॥

इस से सज्जनों के साथ मित्रता करनी चाहिये जो प्रतिदिन बढ़ती रहे, किन्तु दुष्टों के साथ नहीं ॥ ६० ॥

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम्।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणोजगति ॥ ६१ ॥

अर्थ--हरिण, मछली और सत्पुरुष ये तीनों विना किसी को सताये घास, जल और सन्तोष से अपना २ जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु व्याध, धीवर [मछली मारने वाले] और दुर्जन इन से विना कारण ही वैर रखते हैं ॥ ६१ ॥

इति दुर्जननिन्दा ॥

अथ सज्जनप्रशंसा।

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद् भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
येष्वेते निवसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्योनरेभ्योनमः ॥ ६२ ॥

अर्थ–जिन पुरुषों में ये गुण हैं उन को हमारा प्रणाम है—सत्सङ्ग में रुचि, पराये गुणों में प्रीति, बड़े लोगों से नम्रता, विद्या में व्यसन, अपनी ही स्त्री में रमण, लोकनिन्दा से भय, ईश्वर में भक्ति, मन के रोकने की

शक्ति, और खोटे सङ्ग का त्याग ॥६२॥

विपदि धैर्य्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदंहि महात्मनाम्६३

अर्थ—१ विपत्ति में धैर्य्य, २ अपनी वृद्धि में क्षमा, ३ सभा में वाणी की चतुराई, ४ युद्ध में पराक्रम, ५ यश में इच्छा, ६ शास्त्र में व्यसन ये छः गुण महात्मा लोगों में स्वभाव से ही सिद्ध होते हैं ॥ ६३ ॥

प्रदानं प्रच्छनं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः ।
अनुत्सेकोलक्ष्म्या निरभिभवसाराः परकथाः
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥ ६४ ॥

अर्थ— दान को गुप्त रखना, घर पर आए हुए मनुष्य का सत्कार करना, भलाई करके मौन रहना, दूसरे के किये हुए उपकार को सभा में वर्णन करना, धन पाकर अभिमान न करना और दूसरों की चर्चा में उस की बुराई को बचा कर कहना-यह तलवार की धार के समान कठिन नियम सत्पुरुषों को किसने सिखाया है? अर्थात् स्वाभाविक ही है ॥

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणमनम्
मुखे सत्या वाणी विजयिभुजयोर्वीर्यमतुलम् ।
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतैकव्रतफलं
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥६५॥

अर्थ—सुपात्र को दान देने से हाथ, बड़ों के चरणों में झुकाने से शिर सत्य कहने से मुख, बड़े पराक्रम से दोनों बाहु, शुद्धवृत्ति से हृदय और शास्त्र के श्रवण से कान बड़ाई के योग्य होते हैं ॥

भावार्थ यह है कि मनुष्य को दान आदि शुभकर्म के सेवन से हाथ आदि की शोभा बढ़ा के संसार में अतुल कीर्ति प्राप्त करने के लिये उत्साह के साथ उद्योग करना चाहिये ॥ ६५ ॥

सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।
विपत्सु च महाशैलशिलासङ्घातकर्कशम् ॥ ६६ ॥

अर्थ--सम्पत्ति में महात्मा लोगों का चित्त कमल से भी कोमल रहता है और आपत्ति में पर्वत की बड़ी शिला की न्याईं कठोर हो जाता है। अर्थात् विचारशील सुख चाहनेवाले मनुष्य को उचित है कि ज्यों २ धन सम्पत्ति बढ़ती जाय त्यों २ नम्र होता जाय और विपत्ति में कठोरता धारणकरे६६

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसोनामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतोजायते ॥ ६७ ॥

अर्थ-तपे हुए लोहे पर जल की बूंद गिरे तो उसका नाम भी नहीं रहता, वही बूंद कमल के पत्र पर गिरी हुई मोती के समान शोभित होती है, पुनः वही बूंद स्वातिनक्षत्र में समुद्र के सीप में पड़ कर मोती ही बन जाती है, इस से सिद्ध हुआ कि अधम, मध्यम और उत्तम गुण प्रायः संसर्ग से होते हैं ॥

इसलिये मनुष्य को सज्जन महात्मा विद्वान् का सङ्ग करना चाहिये ॥६७॥

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद् भर्त्तरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यद्
एतत्त्रयं जगति पुण्यकृतोलभन्ते ॥ ६८ ॥

अर्थ--जो अपने अच्छे कामों द्वारा पिता को प्रसन्न रक्खे ऐसा पुत्र, जो अपने पति का निरन्तर हित चाहे ऐसी स्त्री, और जो सुख तथा दुःख में बराबर सहायक रहे ऐसा मित्र--ये तीनों जगत् में पुण्यवान् ही को मिलते हैं ॥ ६८ ॥

एकोदेवः केशवोवा शिवोवा, एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा।
एकोवासः पत्तने वा वने वा, एका नारी सुन्दरी वा दरी वा॥६९॥

अर्थ--एक देव को ग्रहण करना चाहिये चाहे विष्णु हो वा शिव हो, एक मित्र बनाना चाहिये चाहे राजा हो वा संन्यासी, एक जगह रहना चाहिये चाहे नगर हो वा वन और एक से प्रीति करे चाहे सुन्दरी स्त्री हो वा पर्वत की कन्दरा हो॥

9743

जगत् में संसार और परमार्थ दो ही मार्ग हैं। जिसमें रहना चाहे उस की पूरी सामग्री संचित करे और पूरा उपाय करे॥ ६९॥

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः
स्वार्थान् सम्पादयन्तोवितततप्रियतरारम्भयत्नाः परार्थे।
क्षान्त्यैवाक्षेपरुक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्ज्जनान् दूषयन्तः
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः?७०

अर्थ—जो सज्जन नम्रता द्वारा ही ऊंचे होते हैं, पराये गुणों के वर्णन से अपने गुण प्रसिद्ध करते हैं, पराये कार्य सिद्ध करने से अपने कार्य को सम्पादन करते हैं और कठोर वाक्यों से बुराई करने वाले दुष्टों को अपनी क्षमा ही से दूषित करते हैं ऐसे आश्चर्य्य कर्म करने वाले महात्मा जन इस जगत् में किस से नहीं पूजे जाते? अर्थात् सब के पूजनीय होते हैं॥

भवन्ति नम्रास्तरवःफलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूमिविलम्बिनोघनाः
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्

अर्थ—जैसे फलों से लदे हुए वृक्ष झुक जाते हैं और नवीन जल से भरे हुए मेघ पृथ्वी की ओर नमते हैं—वैसे ही सत्पुरुष भी ऐश्वर्य्य पा के नम्र होजाते हैं क्योंकि यह परोपकारियों का स्वभाव ही है॥

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कङ्कणन।
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन॥७२॥

अर्थ—कानों की शोभा सच्छास्त्रों के श्रवण से है कुण्डल पहरने से नहीं, हाथों की शोभा दान करने से है कंगन धारण करने से नहीं, और दयावान् पुरुषों के शरीर की शोभा परोपकार करने से है, चन्दन आदि सुगन्ध लगाने से नहीं है॥

यहां कुण्डल, कङ्कण पहनने और चन्दन लगाने का निषेध नहीं है, किन्तु कुण्डलादि की अपेक्षा शास्त्राध्ययनादि को अत्यन्त उत्तम समझना चाहिये॥

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥ ७३॥

अर्थ-मित्र को पाप करने से रोकता, और उस के हित का उपदेश करता, छिपाने योग्य बातों को छिपाता, गुणों को प्रकट करता, विपत्ति पड़ने पर मुंह नहीं मोड़ता और अवसर पड़े पर यथाशक्ति धन देता है॥ ये लक्षण महात्मा लोगों ने अच्छे मित्रों के कहे हैं॥ ७३॥

पद्माकरं दिनकरोविकचीकरोति,
चन्द्रो विकाशयति कैरवचक्रवालम्॥
नाभ्यर्थितो जलधरोपि जलं ददाति,
सन्तः स्वयं परहिते सुकृताभियोगाः॥ ७४॥

अर्थ-जैसे सूर्य विना प्रार्थना किये ही कमल को खिलाता है, चन्द्रमा भी कुमुदिनी के समूह को स्वयं प्रफुल्लित करता है और मेघ भी विना मांगे ही जल वर्षाता है वैसे ही सत्पुरुष भी विना कहे ही परोपकार करने में तत्पर रहते हैं॥ ७४॥

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के? न जानीमहे॥७५॥

अर्थ-इस जगत् में उत्तम पुरुष वे हैं जो स्वार्थको त्यागकर पराया कार्य सिद्ध करते हैं। साधारण मनुष्य वे हैं जो अपना काम न बिगाड़ कर दूसरों का हित करते हैं, मनुष्यों में राक्षसपुरुष वे हैं जो अपने अर्थ के लिये दूसरे का कार्य नष्ट कर देते हैं। और जो विना प्रयोजन दूसरे का काम बिगाड़ते हैं उन का नाम हम भी नहीं जानते कि वे कौन हैं॥ ७५॥

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः,
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद्दृष्ट्वा तु मित्रापदम्,
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी॥७६॥

अर्थ-दुग्ध ने अपने साथ मिले हुए जलरूपी मित्र को अपना सब गुण और रूप दे दिया-फिर दूध को जलता देख मानो उस की रक्षा के निमित्त जलने अपने को अग्नि में फूंक डाला पुनः दूध ने भी मित्र को इस

विपत्ति में देख स्वयं अग्नि में गिरना चाहा--अर्थात् उबल पड़ा--परन्तु जल के छींटे पाय के अपने मित्र को आया समझ कर ठण्डा हो गया सो यथार्थ है सज्जनों की मित्रता इसी प्रकार की होती है ॥ ७६ ॥

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनां शिखरिणां गणाः शेरते ।
इतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्त्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥७७॥

अर्थ—समुद्र में एक तरफ़ शेष नाग पर विष्णुजी सो रहे हैं--एक तरफ़ राक्षस समुदाय निवास करता है--और एक तरफ़ शरण चाहने वाले पहाड़ों के झुण्ड पड़े हैं—और एक तरफ़ प्रलय के अग्नियों को लिये बड़वानल दहक रहा है—आश्चर्य है कि इतने पर भी समुद्र का महान् पराक्रमी और भार सहारने वाला शरीर अचल और निष्कम्प है ॥

ऐसी तरह अनेक बड़े कार्यों के भार और तरह तरह के विघ्न रहने पर भी धैर्यवान् गम्भीर पुरुषों को कभी घबड़ाना नहीं चाहिये ॥ ७७ ॥

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनान् ।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान् गुणान्
कीर्त्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—तृष्णा को काटो, क्षमा को धारण करो, मद को त्यागो, पाप में प्रीति मत करो, सच बोलो, श्रेष्ठ जनों के मार्ग के अनुकूल चलो, विद्वानों की सेवा करो, मान्य पुरुषों का सत्कार करो, शत्रुओं को भी प्रसन्न रक्खो, अपने गुणों को प्रकट करो, यश की रक्षा करो, और दुःखियों पर दया करो ये अच्छे पुरुषों के लक्षण हैं ॥ ७८ ॥

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥७९॥

अर्थ—ऐसे महात्मा जगत् में कोई ही हैं जिन के मन, वचन और शरीर में पवित्रता भरी हो, अथवा पुण्यरूपी अमृत से पूर्ण हों और जो परोपकार समूह से तीनों भुवनों को तृप्त करनेवाले, और दूसरों के थोड़े से गुणों को पर्वत की समान मानकर अपने हृदय में प्रसन्न होने वाले हैं ॥७९॥

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा,
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्तएव ।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण,
कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाःस्युः ॥ ८० ॥

अर्थ—उस सोने के सुमेरु और चांदी के कैलास पर्वत से क्या लाभ है कि जिन के ऊपर वृक्ष जैसे के तैसे ही बने हैं। किन्तु हम तो मलयाचल को उत्तम मानते हैं कि जिसके आश्रय से कङ्कोल, नींब, कुटज आदि कडुए वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं ॥

अर्थात् जिस धर्मात्मा, विद्वान् वा धनी आदि के आश्रय रहने वाले धर्मात्मा, विद्वान् वा धनी आदि न हों तो उस धर्मात्मादि की कुछ महिमा नहीं है। किन्तु जो अधर्मी को धर्मात्मा, मूढ़ को पण्डित तथा निर्धन को धनवान् अपना जैसा बनादे उसकी अधिक महिमा करनी चाहिये ॥८०॥

अथ धैर्यप्रशंसा।

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा, न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं,न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥८१॥

अर्थ—देवता समुद्र में से अनेक अमूल्यरत्न पाने पर प्रसन्न न हुए और भयङ्कर विष से भी डर को प्राप्त न हुए, अपना मनोरथ भी नहीं त्यागा विना अमृत के निकाले उस कार्य से नहीं हटे, इस से सिद्ध होता है कि विद्वान् लोग सुनिश्चित मनोरथ को विना सिद्ध किये नहीं ठहरते ॥

विद्वान् को चाहिये कि कितने ही दुःख वा विघ्न पड़ें तो भी उन सब को सहकर अपने इष्ट की सिद्धि करे ॥ ८१ ॥

क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्य्यङ्कशयनं,
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।

क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ॥ ८२॥

अर्थ-कहीं पृथ्वी का बिछौना करना, कहीं पलंग पर सोना, कहीं साग खाके गुज़ारा करना, कहीं चावल आदि अच्छे द्रव्यों का भोजन करना, कहीं कथड़ी (गुदड़ी) धारण करना और कहीं सुन्दर कपड़े पहनना आदि कार्य करने पड़ते हैं। कार्यसिद्धि की इच्छा वाले विद्वान् पुरुष इस प्रकार के सुख और दुःख को नहीं गिनते ॥ ८२ ॥

ऐश्वर्य्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्य्यस्य वाक्संयमो,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयोवित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणामिदं शीलं परं भूषणम् ॥ ८३ ॥

अर्थ-ऐश्वर्य्य की शोभा सुजनता, शूरता की शोभा बढ़कर न बोलना, ज्ञान की शान्ति, विद्या की अधीनता, धन की सुपात्र के लिये ख़र्च करना, तप की गुस्सा न करना, प्रभुता की क्षमा और धर्म की शोभा कपट रहित होना है। परन्तु सब गुणों की शोभा और सबका कारण शील ही प्रधान है। ८३।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ ८४ ॥

अर्थ-नीति जानने वाले चाहे निन्दा करें चाहे प्रशंसा और लक्ष्मी घर में आवे चाहे चली जावे और आज ही मरना हो वा कल्पान्तर में परन्तु बुद्धिमान् पुरुष न्याय के मार्ग से एक पग भी विमुख नहीं चलते ॥८४॥

अथ प्रारब्धप्रशंसा ॥

भग्नाशस्य करण्डपीडिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा,
कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितोनक्तं मुखे भोगिनः ।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा,
लोकाः ! पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये कारणम् ॥८५॥

अर्थ-एक सांप पिटारे में बंद था और भूख से व्याकुल था इसी से उस ने अपने जीने की आशा त्याग दी थी परन्तु प्रारब्ध से रात्रि में एक चूहा उस पिटारे में छेद करके सर्प के मुख में जा गिरा जिस के मांस से सर्प तृप्त हो कर उसी छेद से बाहर निकल गया। सो हे मनुष्यो! देखो प्रारब्ध ही मनुष्यों की अधिकता तथा न्यूनता में कारण है॥

नियत से फल देने वाले पहिले करे अच्छे बुरे कर्मों का सुख दुःख रूप फल नियत समय पर जीवधारियों को अवश्य मिलता है। इस लिये मनुष्य को भविष्यत् में कल्याण होने की आशा से शुभकर्म का सेवन अवश्य करना चाहिये॥ ८५॥

पातितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः।
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः॥ ८६॥

अर्थ-जैसे हाथ की ताड़ना से नीचे गिराया हुआ गेंद फिर ऊपर उठ आता है वैसे ही सज्जनों की विपत्तियें प्रायः स्थिर नहीं रहती हैं॥८६॥

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थोमहान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमोबन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति॥ ८७॥

अर्थ-मनुष्यों के देह में रहने वाला आलस्य परम शत्रु है और परिश्रम के तुल्य दूसरा कोई मित्र नहीं कि जिस के करने से मनुष्य कभी दुःखित नहीं होता॥ ८७॥

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः।
इति विमृशन्तःसन्तः सन्तप्यन्ते न विप्लुता लोके॥ ८८॥

अर्थ-काटा हुआ पेड़ समय पाकर फिर बढ़ता और फैलता है तथा क्षय को प्राप्त हुआ २ चन्द्रमा भी फिर २ बढ कर पूर्ण हो जाता है ऐसा विचारते हुए विद्वान् जन विपत्काल में घबड़ाते नहीं॥

सुख के पीछे दुःख और दुःख के पीछे सुख आता जाता है इस लिये दुःख में व्याकुल नहीं होना चाहिये॥ ८८॥

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गोदुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतोवारणः।

इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद् भग्नः परैः सङ्गरे ।
तद्व्यक्तं वरमेव दैवशरणं धिग्धिग्वृथापौरुषम् ॥ ८९ ॥

अर्थ-जिस के यहां बृहस्पति वज़ीर, वज्र शस्त्र, देवताओं की फ़ौज, स्वर्ग दुर्ग (क़िला), ईश्वर की दया वा सहायता और ऐरावत गज वाहन (सवारी) ऐसे आश्चर्यरूप बल से युक्त भी इन्द्र संग्राम में शत्रुओं से हार गया—इस से यही प्रतीत होता है कि प्रारब्ध ही सब बातों का कारण है और उद्योग (पुरुषार्थ) को धिक्कार है ॥ ८९ ॥

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधिया कार्यं कर्त्तव्यं सुविचारतः ॥ ९० ॥

अर्थ-यद्यपि मनुष्यों को अपने २ कर्म के अनुकूल ही फल प्राप्त होता है तथा प्रज्ञा (अक़्ल) भी कर्मों के अनुकूल ही होती है तौ भी विद्वान् को विचारपूर्वक ही काम करना चाहिये ॥

क्योंकि प्रारब्ध के अनुकूल क्रिया पुरुषार्थ विशेष फलदायक होगा । और सर्वत्र प्रारब्ध बलवान् भी नहीं रहता । इस लिये पुरुषार्थ करना सब दशा में उत्तम है ॥ ९० ॥

खल्वाटोदिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापितो मस्तके,
वाञ्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ।
तत्राप्याशु महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः,
प्रायोगच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥ ९१ ॥

अर्थ-खल्वाट (गञ्जा) मनुष्य का सिर सूरज की किरणों से जलने लगा तब छाया की चाहना करके दैवयोग से किसी ताड़वृक्ष के नीचे जा रहा-वहां भी उस वृक्ष के फलों के गिरने से उस का शिर फूट गया-इस से यह प्रकट हुआ कि भाग्यहीन पुरुष जहां २ जाता है वहां २ विपत्ति भी उस के सङ्ग सङ्ग जाती है ॥९१॥

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥९२॥

अर्थ-चन्द्र और सूर्य को राहु से ग्रसित, हाथी और सांप को भी बन्धन में पड़े, तथा विद्वान् पुरुषों को निर्धन देख कर मेरी बुद्धि में यही निश्चय होता है कि विधि (तक़दीर) ही बलवान् है ॥ ९२ ॥

प्रारब्ध के बलवान् कहने से यह आशय नहीं है कि परिश्रमहीन बन जाओ किन्तु तात्पर्य यह है कि जैसे बुरे कामों का फल दुःख अवश्य ही भोगना पड़ता है वैसे अच्छे कामों का भी फल सुख अवश्य मिलेगा। ऐसा विश्वास रख कर हमेशा अच्छे काम करने चाहियें ॥

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलंकरणं भुवः ।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेदहह! कष्टमपण्डितता विधेः ॥९३॥

अर्थ-ब्रह्मा किसी प्रसिद्ध नामी विद्वान् मनुष्य को सम्पूर्णगुणों की खान और पृथ्वी का एकमात्र भूषण बनाता है-परन्तु जो उस का शरीर क्षणस्थायी बनाता अर्थात् अधिक जीवित नहीं रखता है यह अतिशोक का स्थान है इसी से ब्रह्मा की मूर्खता प्रकट होती है ॥

यहां परमेश्वर को दोष लगाने से कवि का तात्पर्य नहीं है किन्तु कर्म की प्रधानता के प्रसङ्ग में प्रारब्ध को प्रधान ठहराने से अभिप्राय है कि प्रारब्ध के अनुसार ही अच्छे पुरुषों का भी अधिक जीवन नहीं रहता ॥ ९३ ॥

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषोवसन्तस्य किं,
नोलूकोप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम्,
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः? ॥९४ ॥

अर्थ-यदि करील वृक्ष में पत्ते नहीं लगते तो इस में वसन्त ऋतु का क्या दोष ? यदि दिन में उल्लू नहीं देखता तो इस में सूरज का क्या दोष ? और जो चातक के मुंह में बूंद न पड़े तो इस में मेघ का क्या दोष है ? इस से प्रतीत होता है कि जो कुछ ब्रह्मा ने पहिले मस्तक (प्रारब्ध) में लिख दिया है उस को मेटने को कोई समर्थ नहीं ॥ ९४ ॥

॥ कर्मप्रशंसा ॥

नमस्यामोदेवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा,
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।

फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किञ्च विधिना,
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥ ९५ ॥

अर्थ-देवताओं को बड़ा समझकर हम नमस्कार नहीं करते क्योंकि वे भी ब्रह्मा के वश में हैं—विधाता कोभी नमस्कार हम नहीं करते क्योंकि वह भी हमारे नियत कर्मों का ही फल दे सकता है। जब फल कर्मों के आधीन है तो देवता और ब्रह्मा इस में क्या कर सकते हैं? इस लिये उन कर्मों के लिये ही नमस्कार है कि जिन के हेर फेर करने में ब्रह्मा भी असमर्थ है॥

यहां देवता वा ईश्वर को सामर्थ्यहीन ठहराने से तात्पर्य नहीं किन्तु मनुष्य के लिये कर्म को सर्वोपरि प्रधान ठहराने का अभिप्राय है कि जैसे कर्म करेगा वैसा फल अवश्य पावेगा। अतः सदा अच्छे कर्म करने चाहियें ॥९५॥

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितोब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तोमहासङ्कटे।
रुद्रोयेन कपालपाणिपुटको भिक्षाशनं कारितः,
सूर्योभ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥९६॥

अर्थ—जिस कर्म के प्रभाव से विधाता निरन्तर कुम्हार की नाईं जगत् के बनाने में लगा ही रहता है--और विष्णु बार २ अवतार लेने में पराधीन है, शिव हाथ में खप्पर लेकर भिक्षा मांगने में लगा हुआ है, और सूर्य नित्य आकाश में फिरता रहता है उस प्रबल कर्म को हमारा प्रणाम है ॥ ९६ ॥

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं,
विद्याऽपि नैव न च यत्नकृतापि सेवा।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि,
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥ ९७ ॥

अर्थ—सुन्दररूप, अच्छा कुल, शील, विद्या और प्रयत्न से की हुई सेवा कुछ फल देने वाले नहीं होते केवल पहिले की हुई तपस्या से एकत्रित किये कर्म ही मनुष्य को समय पाकर वृक्ष की भांति फल देते हैं ॥ ९७ ॥

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानिपुराकृतानि ॥९८

अर्थ–वन में, संग्राम में, जल और अग्नि के बीच में, बड़े समुद्र में, पर्वत की चोटी पर, सोते हुए और असावधान तथा संकट की हालत में पड़े हुए पुरुष की रक्षा पहिले करे हुए पुण्य ही करते हैं ॥ ९८ ॥

या साधूंश्च खलान् करोति विदुषोमूर्खान् हितान्द्वेषिणः,
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात्।
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं,
हे साधो! व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः ॥ ९९ ॥

अर्थ–जो अच्छा कर्म तत्क्षण बुरों को अच्छा, मूर्खों को विद्वान्, शत्रुओं को मित्र, गुप्त को प्रकट तथा विष को अमृत बना देता है उस भगवतीरूपसत्क्रिया का आराधन करो। हे सज्जनो! यदि वाञ्छित फल के भोगने की इच्छा है तो बहुत से गुणों की इच्छा छोड़कर केवल सुकर्म करो ॥ ९९ ॥

गुणवद्गुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ,
परिणतिरवधार्य्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्योविपाकः ॥ १०० ॥

अर्थ–विद्वान् पुरुष को उचित है कि योग्य वा अयोग्य जिस कार्य का आरम्भ करे पहिले उस के अन्त को ध्यान देकर यत्नपूर्वक विचारले क्योंकि विना विचारे अतिशीघ्रता से किये बुरे काम का बुरा फल मरणपर्यन्त हृदय में दाह करता और कांटे की भांति चुभता रहता है ॥ १०० ॥

ऐसा विचार किन्हीं २ कामों में करना चाहिये सर्वत्र नहीं ॥

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति तिलकणान् चन्दनैरिन्धनौघैः,
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः।
छित्वा कर्पूरखण्डान् वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्,
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजोयस्तपोमन्दभाग्यः ॥ १०१

अर्थ--जो भाग्यहीन मनुष्य इस मनुष्य देह को पाकर तप आदि अच्छे कर्म नहीं करता उसे उस महामूर्ख के समान समझो जो चन्दन के ईन्धन से वैदूर्यमणि के पात्र में तिल के फटकन (छिलकों) को पकाता है, वा आक वृक्ष की जड़ निकालने के लिये सोने के हल से पृथ्वी को जोतता है, अथवा कपूर के टुकड़ों को काट कर कोदों के चारों तरफ़ बाड़ बनाता है ॥ १०१ ॥

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रूञ्जयत्वाहवे,
वाणिज्यं कृषिसेवनादिसकला विद्याः कलाः शिक्षतु ।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत् कृत्वा प्रयत्नं परं,
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाग्यस्य नाशः कुतः ॥ १०२ ॥

अर्थ–चाहे मनुष्य समुद्र में मोतियों के निमित्त गोता लगावे, अथवा सुमेरु पर्वत की चोटी पर जा चढ़े (सुवर्ण के निमित्त), चाहे युद्ध में शत्रुओं को जीते, चाहे व्यापार, खेती आदि सब विद्या तथा कलाओं को सीख लेवे, चाहे पक्षी के समान आकाश में बड़े यत्न से उड़ता फिरे, परन्तु अनहोनी नहीं होती और जो कर्मवश होतव्यता है वह मिटती नहीं ॥१०२॥

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं,
सर्वोजनः सुजनतामुपयाति तस्य ।
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा,
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥ १०३ ॥

अर्थ--डरावना बन भी उस मनुष्य के लिये प्रधान नगर व राजधानी के तुल्य हो जाता है, सब मनुष्य उस के मित्र हो जाते हैं, तथा सारी पृथ्वी उस को रत्नों से पूर्ण हो जाती है, जिसका पहिले जन्म में एकत्रित किया बहुत सा पुण्य उदय होता है ॥ १० ॥

कोलाभोगुणिसङ्गमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः,
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्वे रतिः ।
कः शूरोविजितेन्द्रियः प्रियतमा कानुव्रता किं धनं,
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम् ॥ १०४

अर्थ--इस श्लोक में ९ प्रश्न और उनके उत्तर हैं—प्रश्न लाभ क्या है ? उ० गुणवान् पुरुषों का सङ्ग, प्र० दुःख क्या है ? उ० मूर्खों की सङ्गति, प्रश्न हानि क्या है ? उ० उत्तम समय को बेफ़ायदे खोना वा समय पर चूक जाना, प्र० निपुणता क्या है ? उ० धर्म में प्रीति होना, प्रश्न शूर कौन है ? उ० जो इन्द्रियों को जीत लेवे, प्र० अच्छी स्त्री कौन है ? उत्तर जो पति के अनुकूल रहे, प्र० धन क्या है ? उ० विद्या, प्र० सुख क्या है ? उ० परदेश में न जाना, प्र० राज्य क्या है ? उ० अपनी आज्ञा का चलना॥

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः।
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा ॥ १०५ ॥

अर्थ-जो मनुष्य अप्रिय वचन नहीं कहते सदा मीठा प्रियवचन बोलते हैं, अपनी ही भार्या से सन्तुष्ट रहते हैं और दूसरों की बुराई नहीं करते हैं ऐसे श्रेष्ठपुरुषों से यह पृथ्वी कहीं २ ही शोभायुक्त है। सर्वत्र नहीं॥ १०५

कदर्थितस्यापि च धैर्य्यवृत्ते-
र्न शक्यते धैर्यगुणःप्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वन्हे-
र्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥ १०६ ॥

अर्थ–यदि धीमान् मनुष्य पर विपत्ति भी पड़जाय तो भी उसका स्वभाव से उत्पन्नधैर्य नष्ट नहीं होता, जैसे जलते हुए अग्नि को चाहे कितना ही नीचे को उलटा करो परन्तु उस की लपट ऊपर को ही उठती है नीचे को कभी नहीं जाती ॥ १०६ ॥

कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य,
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥१०७ ॥

अर्थ–जिस मनुष्य के मन को स्त्री के कटाक्षरूपी बाण व्याकुल नहीं करते और जिस के चित्त में गुस्से की आग नहीं धधकती तथा जिस को इन्द्रियों के विषय लोभ की फांसी से नहीं खैंचते, वही पुरुषोत्तम इन तीनों भुवनों को जीतसकता है ॥ १०७ ॥

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम् ।
क्रियते भास्करेणेव स्फारस्फुरिततेजसा ॥ १०८ ॥

अर्थ--एक ही शूरवीर पुरुष अपने प्रबल पराक्रम से सारे भूमण्डल को अपने आधीन करसकता है, जैसे एक सूर्य समस्त संसार को प्रकाशयुक्त करता है ॥ १०८ ॥

वन्हिस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्,
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते ।
व्यालोमाल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते,
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥ १०९ ॥

अर्थ-उस मनुष्य के लिये अग्नि भी जल की भांति शान्त हो जाता है, समुद्र भी नहर के समान हो जाता है, सुमेरु पर्वत छोटी शिला के समान दीख पड़ता है, सिंह हरिण के समान जान पड़ता है, सर्प माला के तुल्य हो जाता है और विष अमृतसा प्रतीत होता है, जिसके शरीर में समस्त लोकों के मोहने वाला एक शील प्रकाशमान है ॥ १०९ ॥

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वा-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाम् ।
तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति,
सत्यव्रतव्यसनिनोन पुनः प्रतिज्ञाम् ॥११० ॥

अर्थ-लज्जा आदि गुणों को जन्म देने वाली माता के तुल्य अत्यन्त शुद्ध हृदय वाली और सदा स्वाधीन रहने वाली ऐसी प्रतिज्ञा को सत्य बोलने वाले तेजस्वी पुरुष कभी भी नहीं त्यागते, प्रत्युत प्राणों का त्याग देना उन के लिये दुःखदायक नहीं होता ॥ ११० ॥

इति भाषार्थसहितं श्रीभर्तृहरिकृतं नीतिशतकं
समाप्तम् ॥

अकारादिक्रमेण श्लोकसूची ।

श्लो० सं०	श्लोक	पृष्ठ
५२	अकरुणत्वमका०	१८
३	अज्ञः सुखमा०	२
१७	अधिगतपरमा०	६
१०५	अप्रियवचनदरिद्रैः०	३५
१८	अम्भोजिनीव०	७
२८	असुलभो नाभ्य०	११
६०	आरम्भगुर्वी क्ष०	२१
८७	आलस्यं हि मनु०	२९
७१	एतः स्वपिति केश०	२६
५९	उद्भासिताखिल०	२०
१०८	एकेनापिहि०	३६
६९	एकोदेवः केश०	२३
७५	एते सत्पुरुषाः परा०	२५
८३	ऐश्वर्यस्य विभू०	२८
१०६	कदर्थितस्यापि च०	३५
९०	कर्मायत्तं फलं पुं०	३०
६५	करे श्लाघ्यस्त्या०	२२
१०७	कान्ताकटाक्षवि०	३५
८०	किं तेन हेमगिरि०	२७
३३	कुसुमस्तवक०	१२
९	कृमिकुलचितं ला०	४
१९	केयूरा न विभूष०	७
१०४	कोलाभोगुणिसा०	३४
८२	क्वचिद्भूमौ शय्या०	२७
९१	खल्वाटोदिवसेश्वर०	३०
१००	गुणवद्गुणव०	३३
८८	छिन्नोपि रोहति०	२९
२४	जयन्ति ते सुकृतिनो०	९
२३	जाड्यं धियोहरति०	९
५४	जाड्यंह्रीमति गण्यते०	१९
३९	जातिर्यातुरसात०	१४
४०	तानीन्द्रियाणि स्थि०	१४
७८	तृष्णांछिन्धि भज०	२६
५०	त्वमेव चातकाधा०	१८
४३	दानं भोगोनाश०	१५
२२	दाक्षिण्यं स्वजने०	९
१	दिक्कालाद्यनव०	१
५३	दुर्जनः परिहर्त्तव्यो०	१९
४२	दौर्मन्त्र्यान्नृपति०	१५
५७	न कश्चिच्चण्डको०	२०
९५	नमस्यामोदेवा०	३१
७०	नमुत्वेनोन्नमन्तः पर०	२५
८४	निन्दन्तु नीतिनिपु०	२८
८९	नेता यस्यबृह०	२९
९७	नैवाकृतिः फल०	३२
९४	पत्रं नैव यदा करीर०	३१
७४	पद्माकरं दिनक०	२५
४५	परिक्षीणः कश्चि०	१६
८६	पातितोपि कराघा०	२९
७३	पापान्निवारय०	२४
६४	प्रदानं प्रच्छन्न०	२२
४	प्रसह्य मणिमु०	२
२६	प्राणाघातान्निवृ०	१०
२७	प्रारभ्यते न खलु०	१०
९६	ब्रह्मा येन कुला०	३२
८५	भग्नाशस्य कर०	२८
७१	भवन्ति नम्रास्त०	२४
१०३	भीम वनं भवति०	३४

श्लोक सं०	श्लोक	पृष्ठ
१०२	मज्जत्वम्भसि या०	३४
४४	मणिः शाणोल्लीढ०	१५
७९	मनसि वचसि का०	२६
६१	मृगमीनसज्जन०	२१
५८	मौनान्मूकः प्रवच०	२०
३७	यदचेतनोपि पा०	१३
८	यदा किंचिज्ज्ञोहं०	९
४९	यद्धात्रा निजभाल०	१७
४१	यस्यास्ति वित्तं स०	१५
२	यां चिन्तयामि सत०	१
९९	या साधूंश्च खला०	३३
१३	येषां न विद्या न त०	५
६८	यः प्रीणयेत् सुच०	२३
८१	रत्नैर्महार्हैस्तुतु०	२७
४६	राजन् दुधुक्षसि य०	१६
५१	रे रे चातक सावधा०	१८
११०	लज्जा गुणौघजन०	३६
५	लभेत सिकता०	२
३१	लांगूलचालनमध०	१२
५५	लोभश्चेदगुणेन०	१९
९८	वने रणे शत्रुज०	३३
१०९	वन्हिस्तस्य जला०	३६
३६	वरं पक्षच्छेदः स०	१३
१४	वरं पर्वतदुर्गेषु०	५
३५	वहति भुवनश्रे०	१३
६२	वाञ्छा सज्जनसं०	२१
४८	विद्या कीर्त्तिः पा०	१७
२०	विद्या नाम नरस्य	८
६३	विपदि धैर्य्यम०	२२
६	व्यालं बालमृणाल०	३
११	शक्योवारयितुं जले०	४
९२	शशिदिवाकरयोर्ग्रह०	३०
५६	शशिदिवसधूसरो०	२०
१५	शास्त्रोपस्कृतशब्द०	६
१०	शिरः शार्वं स्वर्गात्०	४
७२	श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन	२४
३२	स जातोयेन जातेन०	१२
४७	सत्यानृता च परुषा०	१७
६७	सन्तप्तायसि संस्थितस्य०	२३
३४	सन्त्यन्येपि बृह०	१२
६६	सम्पत्सु महतां चित्तं०	२२
१२	साहित्यसंगीत०	५
३८	सिंहः शिशुरपि निप०	१४
२५	सूनुः सच्चरितः स०	१०
९३	सृजति तावदशेषगु०	३१
१०१	स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां०	३३
३०	स्वल्पं स्नायुवसा०	११
७	स्वायत्तमेकान्तगुणं०	३
१६	हर्त्तुर्याति न गोचर०	६
२१	क्षान्तिश्चेदगुणेन किं किं०	८
७१	क्षीरेणात्मगतोदकाय हि०	२५
२९	क्षुत्क्षामोपि जरा०	११

गुरु विरजानन्द दण्डी
सन्दर्भ सु[illegible]कालय
पु परिग्रहण कमांक ... 9743
दयानन्द महिला महावि[illegible]पुस्तकालय